संवाद
संस्कृत की आधुनिकता

अंदरूनी / बाहरी : विभेद या परस्पर-निर्भरता

सिमोना साहनी राधावल्लभ त्रिपाठी

यह यक़ीनन मेरा सौभाग्य ही है कि डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी जैसे संस्कृत के ख्यातनाम विद्वान ने मेरे काम को इतने ग़ौर से पढ़ा एवं उसकी समीक्षा की। इस काम के विशद विवेचन, सुझावों और आलोचनाओं के लिए मैं उनकी शुक्रगुज़ार हूँ। इसीलिए इस जवाब को मैं किसी दलील या बहस की शक्ल में नहीं लिख रही, क्योंकि इन दोनों चीज़ों से यह भान होता है कि जैसे लिखने वाली/वाला अपने पूर्व-पक्ष को बचाने की कोशिश कर रही/रहा है। मैं ज़रा अलग शैली में इस जवाब को लिखना चाहूँगी; एक ऐसी शैली में जो डॉ. त्रिपाठी के सरोकारों की गम्भीरता को भी स्वीकार करती हो और मुझे इस मुद्दे पर अपने विचारों को रखने की गुंजाइश भी देती हो।

डॉ. त्रिपाठी की विद्वत्ता एवं संस्कृत साहित्य के साथ उनके गहन, आजीवन जुड़ाव के बारे में सभी जानते हैं, जिसकी तुलना में मेरा अपना जुड़ाव अल्प है। हम दोनों की विश्लेषण-पद्धतियों में फ़र्क़ को देखते हुए इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि कालिदास की रचनाओं एवं सम्भवत: कुछेक अन्य रचनाओं के हमारे पाठ में उल्लेखनीय अंतर हैं। इन तमाम भिन्नताओं के बावजूद मैं और डॉ. त्रिपाठी कुछेक साझे सरोकार भी रखते हैं, और शायद हमारे बीच का यह साझापन हमारी उन तमाम भिन्नताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। डॉ. त्रिपाठी की ही तरह मेरा भी ख़याल है कि संस्कृत की पुस्तकों और इन पुस्तकों के साथ जुड़े विविध आसंगों की उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकता के दौर में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, और मैं यह भी मानती हूँ कि इन पुस्तकों के साथ हमारा संबंध नये-नये रूपों और कलेवर में निरंतर जारी रहना चाहिए। अगर मेरी पुस्तक से ऐसा आभास मिलता है कि मैं संस्कृत को मृत भाषा मानती हूँ तो शायद मैं अपनी बात को साफ़ तौर पर नहीं रख पायी हूँ और यह निस्संदेह मेरे लेखन की ख़ामी है। असल में, मुझे लगता है कि ख़ुद डॉ. त्रिपाठी भी यह बात स्वीकार करते हैं कि मूलत: विश्लेषण की दृष्टि से हमारी राहें

एक-दूसरे से बहुत अलग नहीं हैं। अन्यथा उन्होंने मेरे काम का जवाब इतनी सावधानी एवं एकाग्रता के साथ नहीं दिया होता।

चूँकि मैं सोचती हूँ कि इस साझेपन को नज़रअंदाज़ और नहीं विस्मृत किया जाना चाहिए। इसलिए मैं यहाँ डॉ. त्रिपाठी की टिप्पणियों में आये बाहरी व्यक्ति के प्रश्न पर ध्यान देना चाहूँगी। मुझे अंदरूनी/बाहरी का यह द्विभाजन एक ही साथ प्रभावशाली और दिक़्क़ततलब लगता है। इसलिए इस अवसर पर मैं उस संरचना के बारे में ज़रा व्यवस्थित तरीके से चिंतन करना चाहूँगी जिसके अंतर्गत संस्कृत की एक अंदरूनी और एक बाहरी दुनिया बना दी गयी है। संस्कृत की इस बाहरी दुनिया में ऐसे पाठक एवं व्याख्याकार आते हैं जिन्हें एक ख़ास नज़रिये के मुताबिक़ संस्कृत परंपरा का गम्भीर विद्वान नहीं माना जा सकता।

संस्कृत की एक अंदरूनी और एक बाहरी दुनिया बना दी गई है। ... बाहरी दुनिया में ऐसे पाठक एवं व्याख्याकार आते हैं जिन्हें एक ख़ास नज़रिये के मुताबिक़ संस्कृत परंपरा का गम्भीर विद्वान नहीं माना जा सकता।

मैं शुरुआत में ही यह साफ़ कर देना चाहती हूँ कि मैं विभाजन की यह चर्चा ख़ुद को अंदरूनी दर्जे में घोषित करने के लिए नहीं कर रही। मेरे मामले में तो यह एक हास्यास्पद दावा होगा। जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में ही साफ़ कर दिया है, मैं संस्कृत रचनाओं के सम्पर्क में बहुत बाद में आयी। और मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मैं सदैव संस्कृत की विद्यार्थी ही बनी रहूँगी और विशेषज्ञ का दर्जा मुझे कभी हासिल नहीं होगा। बारहवीं कक्षा के बाद मेरी पूरी शिक्षा अमेरिका में हुई। वहाँ मैंने तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन किया। अंततः भारतीय साहित्य एवं बौद्धिक इतिहास पर अपना ध्यान केंद्रित किया और उन प्रश्नों से मुख़ातिब हुई जो राजनीतिक एवं साहित्यिक सिद्धांत के संधि-बिंदु पर उभरते है। इससे स्पष्ट है कि अंदरूनी दर्जे का विकल्प तो मेरे लिए सहज ही बंद हो चुका है— सिर्फ़ राजनीतिक-सांस्कृतिक जुड़ाव के लिहाज़ से नहीं (भारत और अमेरिका दोनों ही जगह) बल्कि अनुशासनगत जुड़ाव के लिहाज़ से भी।

हालाँकि मैं समझती हूँ कि डॉ. त्रिपाठी की टिप्पणियाँ मेरे व्यक्तिगत जीवन की ओर इंगित नहीं करतीं, फिर भी मैंने यहाँ पर अपनी जीवनी को एक ख़ास तरह के प्रशिक्षण एवं स्थान-बोध के उदाहरण और एक ख़ास तरह की आवाज़ के तौर पर उद्धृत किया है। इस आवाज़ को एक बाहरी व्यक्ति की आवाज़ कहने में कौन से जोखिम निहित हैं? मैं डॉ. त्रिपाठी की टिप्पणियों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानती हूँ क्योंकि ये टिप्पणियाँ विशिष्ट प्रकार के राजनीतिक एवं अनुशासनगत तनावों की ओर इंगित करती हैं, जो साहित्य— ख़ास तौर पर संहिताबद्ध साहित्य के अध्ययन को आज भी बहुत गहराई से प्रभावित करते हैं।

इस संदर्भ में बाहरी व्यक्ति के बारे में चिंतन करते हुए मुझे लगता है कि लगभग दो ऐसे तरीक़े हैं जिनके आधार पर किसी व्यक्ति को बाहरी क़रार दिया जा सकता है। यहाँ मैं दोनों ही पर थोड़ा विस्तार से बात करना चाहूँगी। पहला तो यह कि बाहरी वह है जिसे परम्परा का गहरा ज्ञान नहीं है। उसने शायद पर्याप्त या व्यवस्थित रूप से पर्याप्त अध्ययन नहीं किया है। किसी भी परम्परा के बारे में बाहरी व्यक्ति की जानकारी बहुत हद तक चयनात्मक एवं अनियमित होती है, शायद उसने वही भर पढ़ा हो जो उसके स्वभाव को भाया हो। इस संदर्भ में बाहरी व्यक्ति को नौसिखिया या रसिक (डिलेटेंट) भी कहा जा सकता है। और हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पहले अंग्रेज़ी शब्द डिलेंटेंट का अर्थ हुआ करता था ऐसी/ऐसा व्यक्ति जो किसी चीज़ में आनंद लेती/लेता हो। नकारात्मक

संस्कृत दूसरों के लिए इतने लम्बे समय से निषिद्ध रही है तथा पदानुक्रम के साथ उसका संबंध इतना लम्बा रहा है कि आज हमारा मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि संस्कृत-प्रासाद के दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दी जाएँ, इसके मार्ग में खड़े सारे अवरोध हटा दिए जाएँ ...

अर्थों में यह प्रयोग बहुत बाद में शुरू हुआ, विशेषज्ञ की अवधारणा के काफ़ी प्रभावशाली हो जाने के बाद ही। रसिक एवं पण्डित की ये अवधारणाएँ एक विचित्र विषमता दर्शाती हैं। ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं क्योंकि दोनों को ही विषय पर विशेषज्ञता हासिल होती है। लेकिन रसिक के मामले में आनंद (ज्ञान से प्राप्त) पर ज़ोर दिया जाता है, विद्या के पाण्डित्य पर नहीं। इससे पहले कि बात को ग़लत ढंग से समझ लिया जाए, मैं यह साफ़ कर देना चाहती हूँ कि मैंने इन अवधारणाओं का ज़िक्र ख़ुद को रसिकों की क़तार में शामिल करवाने के लिए नहीं किया है— यह अपने आप में काफ़ी दुस्साहसिक क़दम होगा! बल्कि, यह दिखाने के लिए किया है कि कैसे ज्ञानार्जन की भिन्न-भिन्न अवधारणाओं पर, ख़ास तौर से कला के क्षेत्र में, सदा से ही आनंदप्राप्ति, छिछोरेपन, और गाम्भीर्य की छाप लगती रही है। अधिक गम्भीर बात जो मैं कहना चाहती हूँ वह यह है कि नौसिखिये बाहरी को हमेशा ही किसी परम्परा की समग्रता के संदर्भ में, या इसके विरोध में रखकर ही चीन्हा जाता है। परम्परा के एक स्वीकृत मूल या केंद्र के संदर्भ से देखने पर ही बाहरी की पहचान हो पाती है।

पर इस केंद्र की विशेषताएँ कैसे निर्धारित की जाएँगी? क्या संबंधित विषय में अर्जित प्रवीणता को इसका मानक माना जाएगा, या फिर विषय के प्रति निष्ठाभाव को? यह सच है कि इन दोनों में से किसी भी मानक की पूर्णतः अवहेलना नहीं की जा सकती, फिर भी हरेक मानक कुछ ऐसी समस्याएँ खड़ी कर देता है जिनका हल बूझना मुश्किल होता है। प्रवीणता को महत्त्व देना, ख़ास तौर से संस्कृत के संदर्भ में, मेरे ख़याल से फ़ौरी ज़रूरत, जिसे मैं संस्कृत का लोकतंत्रीकरण कहना चाहूँगी— के विरुद्ध जाएगा। संस्कृत दूसरों के लिए इतने लम्बे समय से निषिद्ध रही है तथा पदानुक्रम के साथ उसका संबंध इतना लम्बा रहा है कि आज हमारा मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि संस्कृत-प्रासाद के दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दी जाएँ, इसके मार्ग में खड़े सारे अवरोध हटा दिये जाएँ, और इसी प्रक्रिया में संस्कृत के विद्वानों, चाहे वे विद्वान देशज हों अथवा पाश्चात्य, के सांस्कृतिक कृतित्व और प्रवीणता की महत्ता को निरंतर प्रश्नांकित किया जाए। निष्ठाभाव की अवधारणा तो और भी पेचीदा है। मुझे ऐसा लगता है कि निष्ठाभाव कभी भी सिर्फ़ परम्परा के प्रति न होकर सदैव ही किसी अन्य तत्त्व-परम्परा में गुंजित किसी लय या धुन और समय के किसी ख़ास मुहाने पर उसकी सम्भावित भूमिका के प्रति होता है। उदाहरणतः, हमारा यह डर कि ग़ैर-पाश्चात्य ज्ञान परम्पराओं का शनैः-शनैः विलोप होता जा रहा है, असल में इस डर से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है कि ज्ञान, भाषा, विचार के समरूपीकरण की परछाइयाँ आहिस्ता-आहिस्ता सघन होती जा रही हैं। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि ग़ैर-पाश्चात्य ज्ञान परम्पराओं की महत्ता के पक्ष में रखी गयी हमारी दलीलें अगर उनकी मौजूदा हाशियाबंद स्थिति को दर्शाने भर तक सीमित रहती हैं तो ये दलीलें इस तर्क को आगे नहीं बढ़ा सकतीं। एक बिंदु पर जा कर यह भी अनिवार्य हो जाता है कि परम्परा की जीवंतता, रचनाशीलता, और उसकी निर्णय और चयन करने की क्षमता पर भी ध्यान दिया जाए। परम्पराएँ तभी तक जीवंत रहती हैं जब तक उनमें अपने अवधारणात्मक ढाँचे को नया कलेवर देने, नये सम्पर्क बनाने, नये सवालों एवं चुनौतियों से जूझने, और यहाँ तक कि कुछेक विचार-सरणियों का परित्याग कर देने की सामर्थ्य रहती है। क्या इस संदर्भ में अंदरूनी/बाहरी का यह भेद उपयोगी/सार्थक भेद

साबित होता है? हक़ीक़त तो यह है कि कई बार यह 'बाहरी' ही 'अंदरूनी' के उन्नयन के लिए अनिवार्य हो जाता है।

वैचारिक परम्पराओं को नई ऊर्जा तब मिलती है जब उनकी बुनियादी मान्यताओं को शाश्वत समझने का भाव ख़त्म होने लगता है तथा उनकी वैधता प्रकटतः दिखने के बजाय औचित्य की माँग करने लगती है।

डॉ. त्रिपाठी को मेरे काम से एक ऐतराज़ यह रहा है कि मैंने ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रामानंद बरुआ एवं पंडिता रमाबाई जैसे चिंतकों पर ध्यान नहीं दिया है। ये सभी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और इन्होंने अपने समय में हिंदू एवं संस्कृत समुदाय के प्रतिगामी तत्त्वों की कड़ी आलोचना की थी। मैं इसे एक महती टिप्पणी के रूप में स्वीकार करती हूँ, ख़ासकर इसलिए क्योंकि वह यह दिखाती है कि उन्नीसवीं सदी के कुछेक सबसे विख्यात संस्कृत विद्वान हिंदू रीति-रिवाजों के अगुआ आलोचक भी थे। मैं यह एकदम स्वीकार करती हूँ कि पुस्तक में उनकी अनुपस्थिति पुस्तक की एक बड़ी ख़ामी है— और यह मेरे प्रोजेक्ट की सीमा चिह्नित करती है। यद्यपि मैं इस टिप्पणी के लिए डॉ. त्रिपाठी की कृतज्ञ हूँ, फिर भी मेरे मन में यह संशय मौजूद है कि संस्कृत के इन विख्यात विद्वानों के हस्तक्षेप और मोहन राकेश, धर्मवीर भारती और यहाँ तक कि गाँधी जैसे लोगों, जिनका मैंने अध्ययन किया है और जिन्हें संस्कृत का ज्ञाता नहीं माना जाता, के हस्तक्षेप को किन सैद्धांतिक मानकों के आधार पर अलग ठहराया जाएगा। क्या यह फ़र्क़ संस्कृत में निपुणता, उसके अध्ययन में तल्लीनता या फिर संस्कृत के प्रति निष्ठाभाव के आधार पर किया जाएगा? इनमें से किसी भी धारणा को मानक बनाने के निहितार्थ क्या होंगे? क्या इनसे कोई ज़्यादा कारगर और उपयोगी मानक भी हो सकता है? इसी क्रम में आगे बढ़ें तो क्या हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जिन विद्वानों का ज़िक्र डॉ. त्रिपाठी ने किया है उनके सुधारवाद में बाहरी तत्त्वों की कोई भूमिका नहीं थी? यूरोपीय विज्ञान एवं दर्शन में विद्यासागर की रुचि के बारे में सब जानते हैं, साथ ही इस तथ्य से भी सभी परिचित हैं कि रमाबाई की शिक्षा ब्रिटेन में हुई थी और उन्होंने अंततः ईसाई धर्म अपना लिया था। मैं यह नहीं कहना चाह रही कि उनके सुधारवादी एवं प्रगतिशील विचार यूरोपीय चिंतन से उपजे थे। यह तो निहायत ही प्रतिक्रियावादी एवं हास्यास्पद वक्तव्य होगा, बल्कि मैं यह कहना चाहती हूँ कि अंदरूनी एवं बाहरी के इस विभाजन को विश्लेषण का उपयोगी साँचा नहीं कहा जा सकता— न तो उन्नीसवीं सदी के लिए और न ही आज के लिए। असल में, वैचारिक परम्पराओं को नयी ऊर्जा तब मिलती है जब उनकी बुनियादी मान्यताओं को शाश्वत समझने का भाव ख़त्म होने लगता है तथा उनकी वैधता प्रकटतः दिखने के बजाय औचित्य की माँग करने लगती है। तात्कालिक वैधता का यह स्थगन अपने आप में इस संक्रमण का स्पष्ट चिह्न है कि व्यवस्था में एक ऐसा तत्त्व घुस गया है जो इसकी पूर्वधारणाओं से सहज या प्राकृतिक होने का भाव छीन कर उनके पुनर्विन्यास पर ज़ोर देने लगा है। विचार इसी तरह से अग्रसर होता है (और यह भी जोड़ा जा सकता है कि लोकतंत्र की गति भी यही होती है, हालाँकि इसके लिए लम्बे विश्लेषण की दरकार है)। विचार का नवीकरण इसी तरह होता है। और इसी वजह से मुझे लगता है कि अगर अंदरूनी एवं बाहरी के द्विभाजन को क़ायम रखा गया तो इससे चिंतन का वातावरण भी अवरुद्ध हो सकता है।

लेकिन एक दूसरा तरीक़ा भी है बाहरी को परिभाषित करने का। इस दूसरे तरीक़े के मुताबिक़ बाहरी व्यक्ति अ-विद्वान या अ-विशेषज्ञ नहीं होगा, और यह उत्तराधिकार में मिली परम्परा के प्रति निष्ठावान भी नहीं होगा बल्कि वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जिसके पास परम्परा की कोई थाती ही

यह पूछना खासे जोखिम का काम है कि किसी रचना या रचना-परम्परा के प्रति पाठक का रिश्ता कैसा है?, क्या यह रिश्ता समकालीन जीवन और बौद्धिक तथा राजनीतिक बहसों में रचना के महत्त्व और उसकी प्रासंगिकता को बरकरार रखने में मदद करता है?

नहीं है। यह मुझे बाहरी की अधिक गहन और मूलगामी परिभाषा प्रतीत होती है जिसे डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुझाया है। इस अवसर पर मुझे उनके निबंध 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में प्रयुक्त शब्दों का स्मरण हो रहा है। हिंदी एवं अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत रचनाओं के अनुवाद की अनिवार्यता के पक्ष में एक वाक्पटु तर्क रखने के बाद द्विवेदी संस्कृत की रचनाओं के प्रति भारतीयों एवं यूरोपियों की समझ की भिन्नताओं पर बात करते हैं, 'विदेशी पण्डितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए; परंतु हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि अधिकांश विदेशी पण्डितों के लिए हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के सामान हैं। इनके प्रति उनका जो सम्मान है, उसे अंग्रेज़ी के 'म्यूज़ियम इंटरेस्ट' शब्द से भी समझा जा सकता है। नुमाइश में रखी हुई चीजों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं, परंतु निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवन में उनका व्यवहार नहीं कर सकते।'

द्विवेदी कहते हैं कि हमें संस्कृत रचनाओं को समर्पित यूरोपीय विद्वान के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अधिकतर यूरोपियों के लिए संस्कृत की रचनाएँ संग्रहालय की वस्तुएँ थीं— आश्चर्यजनक पुरातन परिधान के मानिंद जिनकी तारीफ़ तो की जा सकती है पर उन्हें पहना नहीं जा सकता। यूरोपीय कभी भी ख़ुद को संस्कृत रचनाओं में निहित चिंतन से प्रेरणा ग्रहण करने एवं उस चिंतन को आगे बढ़ाने की स्थिति में कल्पित नहीं कर सकते थे। वे केवल अपने द्वारा अनूदित और पढ़ी गयी रचनाओं के विद्वान, विश्लेषक और, हद से हद, प्रशंसक ही हो सकते थे।

मुझे ऐसा लगता है कि, आज के संदर्भ में, उपरोक्त उक्ति में सबसे महत्त्वपूर्ण विभेद यूरोपीय या भारतीय के बीच का नहीं है; बल्कि पुरातन रचनाओं के प्रति दो तरह की समझदारियों के बीच है। यह परवर्ती विभेद महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें परम्परा की जीवंतता के प्रश्न को उठाया गया है जिसकी मैं पहले ही चर्चा कर चुकी हूँ। इसलिए यह पूछना ख़ासे जोख़िम का काम है कि किसी रचना या रचना-परम्परा के प्रति पाठक का रिश्ता कैसा है?, क्या यह रिश्ता समकालीन जीवन और बौद्धिक तथा राजनीतिक बहसों में रचना के महत्व और उसकी प्रासंगिकता को बरक़रार रखने में मदद करता है?

मैं नहीं समझती कि डॉ. त्रिपाठी को इनमें से किसी भी बिंदु पर ऐतराज़ होगा। दरअसल, उनके अपने काम से यह साबित होता है कि उनके मन में उन विचारों के प्रति रुचि एवं सरोकार है जिनकी मैंने ऊपर चर्चा की है। उदाहरण के तौर पर, वे दाराशिकोह के *समुद्रसंगम* में दिलचस्पी रखते हैं क्योंकि उनका मानना है कि यह रचना हमें कई महत्त्वपूर्ण बातें सिखा सकती है, कि यह हमें एक ऐसी विचार-सरणी से परिचित कराती है जो वर्तमान संदर्भ में उपयोगी भूमिका निभा सकती है।

लिहाज़ा, बतौर निष्कर्ष मैं केवल इतना कहूँगी कि अपने तमाम मतांतरों के बावजूद डॉ. त्रिपाठी और मेरे बीच ऐसा बहुत कुछ साझा है जो पहली नज़र में दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए उनके प्रति पूरा सम्मान व्यक्त करते हुए मैं यह कहना चाहूँगी कि कालिदास का आस्वाद कई दृष्टियों से किया जा सकता है। इसलिए जब हम कालिदास को अलग दृष्टि से सराहते हैं तो कालिदास की हत्या नहीं हो जाती। इसके ठीक विपरीत, शायद कालिदास को विभिन्न दृष्टियों से सराहे जाने के कारण ही उनके कृतित्व की महत्ता, ओज और प्रासंगिकता क़ायम रही है।

राधावल्लभ त्रिपाठी सिमोना साहनी

सबसे पहले तो मैं यह कहना चाहूँगा कि सिमोना को इतना विनम्र होने की आवश्यकता नहीं है। उनकी किताब आकार में छोटी होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है, और आकार की लघुता के बावजूद उसके कथ्य की दूरगामिता के कारण ही मैंने उस पर इतनी विस्तृत समीक्षा करना उचित समझा। बल्कि मुझे इस बात का खेद है कि इस किताब को ले कर जिस समाज में ख़ास तौर से चर्चा होनी चाहिए थी— संस्कृत के पण्डितों का समाज, वहाँ इस पर चर्चा नहीं हुई। यदि वहाँ इस पर चर्चा होती, तो मेरी समीक्षा की तुलना में इस पर कड़ी और कटु प्रतिक्रियाएँ आतीं, पर उससे विमर्श आगे बढ़ सकता था। बहरहाल मेरी टिप्पणियों को सिमोना ने जिस उदार भाव से ग्रहण किया है, उसकी मैं आदरपूर्वक सराहना करता हूँ। इसे मैं *प्रतिमान* की भी उपलब्धि मानता हूँ कि इस बहाने एक संवाद का सिलसिला शुरू हो सका, जिसे आगे बढ़ाया जाना चाहिए।

सिमोना के इस कथन से मैं सहमत हूँ कि तमाम भिन्नताओं के बावजूद मेरे और उनके कुछेक साझे सरोकार भी हैं, पर उनकी तरह यह मानने में मुझे कुछ दिक़्क़त है कि हमारे बीच का यह साझापन हमारी उन तमाम भिन्नताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सिमोना ने अपना ध्यान मेरी टिप्पणियों में आये बाहरी व्यक्ति के प्रश्न पर ही ज़्यादातर केंद्रित रखा है। यह सही है कि यह बहुत ही जटिल और संवेदनशील सवाल है। सिमोनाजी की जानकारी के लिए बताना चाहता हूँ कि संस्कृत के ठेठ पारम्परिक पण्डितों का एक समाज सौभाग्य से हमारे यहाँ अभी तक जीवित है, जिसके सम्मुख आचार मीमांसा की दृष्टि से ही नहीं, ज्ञान मीमांसा और प्रमाण मीमांसा की दृष्टि से भी, मेरे जैसे लोग पूरी तरह बाहरी हैं। पर ऐसे पण्डित जनों के प्रति पूरे सम्मान के साथ उनसे संवाद बनाने का प्रयास मेरे जैसे लोगों को करना चाहिए। दूसरी ओर सिमोना जैसे अध्येताओं से, जो मूलत: संस्कृत के छात्र नहीं रहे, मैंने और मेरे जैसे संस्कृतज्ञों ने भी कुछ सीखा है, संस्कृत काव्यों की शब्दावली और पंक्तियों की ऐसी विचारणीय व्याख्याएँ, जो हमें नहीं बताई गयीं, न हमारे दिमाग़ में आयीं, हमें ऐसे अध्येताओं से सीखने, समझने और गुनने को मिलीं। सिमोना की किताब में ही कालिदास विषयक विमर्श में स्मर और ग्रीवाभंग जैसे शब्दों के द्वारा पूरे पाठ की जो व्याख्या बनाई गयी है, वह मेरे लिए नयी और विचारणीय है, स्वीकार्य न भी हो।

बाहरी होने की बात मैंने बड़े संदर्भ में कहने की कोशिश की थी। सम्भवत: पूरी समीक्षा बहुत त्वरा में लिखे जाने से बात सुलझा कर नहीं कही जा सकी। मेरा आशय यह था कि अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों में पनपा ओरिएंटलिज़्म और उससे बँधी मानसिकता कहाँ तक अभी भी प्रकारांतर और रूपांतर में हमारे बीच मौजूद है। ज़रूरी नहीं कि यह मानसिकता उन्हीं में हो जो विदेश में बस गये और जिनका संस्कृत का परम्परागत अध्ययन नहीं रहा। इस तरह की मानसिकता संस्कृत के अपने समाज के भीतर के विद्वज्जनों में भी हो सकती है। एक अर्थ में ऐसे विद्वज्जन, चाहे वे संस्कृत के मूर्धन्य पण्डित ही क्यों न हों, परम्परा के संदर्भ में अबाह्य न हो कर बाह्य ही हो जाते हैं। संस्कृत को भूमण्डलीय सत्ता-विमर्श का माध्यम बनाया जाता है, या अपने समय के बोध के सत्यापन का माध्यम बनाया जाता है— इन दोनों स्थितियों में संस्कृत और उसकी परम्पराएँ निमित्त बन कर रह जाती हैं। निमित्त नैमित्तिक की प्राप्ति होने पर त्याज्य हो जाता है। अतएव संस्कृत को किसी सत्ता-विमर्श का माध्यम बनाने वाले अध्येताओं या अपने समय के बोध के सत्यापन का माध्यम बनाने वाले रचनाकारों के लिए भी संस्कृत अंततः त्याज्य है। एक दूसरी दृष्टि परम्परा का अपने समय में पुनराविष्कार करने की है। उसमें परम्परा त्याज्य न हो कर नयी हो जाती है। अपनी इस गत्यात्मकता में उसका सातत्य

यदि वे यह मानती हैं कि अंदरूनी के उन्नयन के लिए एक ख़ास तरह का बाहरी अनिवार्य हो सकता है, तो इसके साथ यह भी उन्हें मानने के लिए तैयार होना चाहिए कि वह बाहरी भी अपना परिमार्जन परम्पराओं के आंतरिक अवबोध के द्वारा करे।

और साहचर्य बना रहता है। प्रसाद ध्रुवस्वामिनी का अपने समय में पुनराविष्कार करते हैं। मोहन राकेश अश्वघोष और कालिदास को अपने समय के नंद और कालिदास के सत्यापन का माध्यम बनाते हैं।

सिमोना ने उनके द्वारा उठाई गयी बातों को एक बाहरी व्यक्ति की आवाज़ के तौर पर पहचानने में निहित जोख़िम की तरफ़ इशारा किया है और मेरी टिप्पणियों में एक तरह का अंतर्निहित राजनीतिक एवं शैक्षणिक तनाव देखा है। एक तरह का तनाव सिमोना की सारी उपस्थापना में भी है। संस्कृत के लोकतंत्रीकरण का प्रस्ताव करते हुए उन्हें उसके प्रति निष्ठाभाव और उसके साहित्य में प्रवीणता दोनों को लेकर दिक़्क़त है। उन्होंने सुझाया है कि एक बिंदु पर जाकर यह भी अनिवार्य हो जाता है कि परम्परा की वर्धमानता, इसकी रचनाशीलता, और निर्णयन एवं चयन की इसकी क्षमता पर भी ध्यान दिया जाए।

सवाल यह उठता है कि यह एक बिंदु कहाँ आयेगा? क्या निष्ठाभाव और प्रवीणता का जहाँ अंत होगा वहाँ, या जहाँ उनका सातत्य बना रहेगा, वहाँ?

मेरी समझ से एक ओर संस्कार से प्राप्त निष्ठाभाव और अभ्यास से अर्जित प्रवीणता के साथ परम्पराओं के पुनरवबोध, पुनर्मूल्यांकन और अपने समय में उनके पुनराविष्कार या पुनर्व्यवस्थापन के उद्यम में; तो दूसरी ओर निष्ठाभाव और प्रवीणता के बग़ैर परम्पराओं की अपनी अवधारणात्मक साज-सज्जा का पुनःसमंजन या नवीनीकरण करने, नये सम्पर्क बनाने, नये सवालों एवं चुनौतियों से जूझने, और यहाँ तक कि कुछेक विचार-सरणियों का परित्याग तक करने के उद्यम में— फ़र्क़ रहेगा।

इस दृष्टि से सिमोना के इस सवाल पर पुनर्विचार की ज़रूरत है कि यह अंदरूनी/बाहरी का विभेद क्या कोई उपयोगी/उर्वर विभेद साबित होता है? यदि वे यह मानती हैं कि अंदरूनी के उन्नयन के लिए एक ख़ास तरह का बाहरी अनिवार्य हो सकता है, तो इसके साथ यह भी उन्हें मानने के लिए तैयार होना चाहिए कि वह बाहरी भी अपना परिमार्जन परम्पराओं के आंतरिक अवबोध के द्वारा करे।

सिमोना को यह अधिक सुविधाजनक लगता है कि अंदरूनी एवं बाहरी की दीवार को नकार दिया जाए, क्योंकि अंदरूनी एवं बाहरी के द्विभाजन को ग़ैर बनाये रखा गया तो हो सकता है चिंतन हेतु सुरम्य/सत्कारशील वातावरण न बन पाये। मेरी समझ से दो दुनियाएँ हैं, दोनों के बीच एक अदृश्य दीवार भी है। विश्व दुर्भाग्य से न तो राजनीति में, न विचारों में ही इस तरह एक हो पाया है कि इस दीवार की उपस्थिति को भ्रम कहा जाए। इसकी उपस्थिति में ही संवाद के होते रहने में विश्व के बचे रहने की सम्भावना है।

सिमोना ने काफ़ी श्रम और शक्ति इस अंदरूनी और बाहरी की समस्या से रूबरू रहने में लगा दी है। मेरे द्वारा उठाए गये दूसरे और भी महत्त्व के बिंदुओं पर ध्यान देने का उन्हें अवकाश नहीं मिल सका। इस तरह के बिंदुओं को हड़बड़ी में निपटाने के कारण आनंदराम बरुआ (मूल उच्चारण बडुया) का नाम रामानंद लिख गया है, और रमाबाई के बारे में उनकी टीप थोड़ी भ्रामक हो गयी है।

सिमोना का आग्रह है कि परम्परा या प्राचीन क्लासिकी साहित्य के संदर्भ में अध्येता के भीतरी और बाहरी होने के विभाजन को या तो अस्वीकार किया जाए या बताया जाए कि इनके विभेदक तत्त्व क्या होंगे?

अबाह्य और बाह्य अध्येताओं में एक विभेदक तत्त्व की चर्चा ऊपर मैंने की है— एक पुनराविष्कार

अनेक विदेशी और भारतीय विद्वान संस्कृत की कृतियों का जिस तरह पाठ कर रहे हैं, वह सामाजिक-आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक या मनोदैहिक स्तरों तक सीमित रहता है। परम्परा में इतने तक ही पाठ की पूर्णता को नहीं स्वीकारा गया।

और विस्तार करता है, दूसरा आरोप और सीमन। एक और विभेदक तत्त्व अध्येता के द्वारा की गयी व्याख्या की समग्रता या असमग्रता का है। उदाहरण के लिए *गीता* लगभग डेढ़ हज़ार वर्षों से हमारे देश में पाठ, अध्ययन, प्रवचन और मनन का विषय रही है। कहीं भी हिंसा का प्रतिपादन करने वाली एक कृति के रूप में उसकी व्याख्या नहीं की जाती, अहिंसा को सर्वोच्च मूल्य मानने वाले जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने भी वैदिक दर्शनों के विरोध में खूब बहस की, उनके ग्रंथों की छीछालेदर भी की, वेदों और वैदिक हिंसा पर प्रबल प्रहार किया, पर अपने तमाम खण्डनों में *गीता* को हिंसा की वकालत करने वाली कृति के रूप में उन्होंने देखा हो, ऐसी जानकारी मुझे नहीं है। हिंसा का प्रतिपादन करने वाली एक कृति के रूप में *गीता* की जो व्याख्या सिमोना की पुस्तक के एक अध्याय में है, वह बहुत दिलचस्प और आकर्षक है, पर वह समग्र व्याख्या नहीं बन पाती। गीता हिंसा की नहीं, निष्काम कर्म की वकालत करती है। कृष्ण इतना ही कहते हैं कि राग-द्वेषरहित हो कर किये गये कर्म में हिंसा यदि जुड़ गयी है तो वह कर्ता को नहीं बाँध पायेगी। क्षत्रियों के लिए सत्ता-विमर्श और हिंसा को जायज़ ठहराने वाली कृति के रूप में *गीता* का उत्तर-आधुनिक पाठ एक आरोपित पाठ है। गाँधी *गीता* को एक रूपक या मेटाफ़र मान कर अहिंसा का दर्शन उसमें से निकालते हैं। संस्कृत के पण्डित न होते हुए भी वे *गीता* के व्याख्याकार के रूप में अबाह्य इसलिए माने जाएँगें कि गीता जैसे ग्रंथों की रचना और व्याख्या मेटाफ़र के रूप में होती आयी है। *गीता* अपने समग्र दार्शनिक विमर्श के साथ तो मूलत: *महाभारत* का अंग नहीं थी, बाद में जोड़ी गयी। यह बहुत सम्भव है कि बाद में जिसने इसे रचा और मूल *महाभारत* में संयोजित किया, उसका आशय कृष्ण और अर्जुन के मूल संवाद के माध्यम से एक रूपक रचने में ही हो। इसी तरह *अभिज्ञानशाकुंतल* को स्मरण की कृति या आखेट के भाव की कृति के रूप में पढ़ना जितना ही चमत्कारजनक है, पर उतना ही एकदेशीय भी। परम्परा में *शाकुंतल* को धर्मसंवलित कामपुरुषार्थ की कृति के रूप में समझा जाता हैं। रवींद्रनाथ इससे जुड़ कर तप और प्रायश्चित्त के द्वारा प्रेम और चेतना के परिष्कार और उदात्तीकरण की कृति के रूप में उसे प्रस्तुत करते हैं। पुरुषार्थ की कृति के रूप में या चेतना के परिष्कार और उदात्तीकरण की कृति के रूप में शाकुंतल की मुक़म्मल व्याख्या बन जाती है, स्मरण की कृति या आखेट के भाव की कृति के रूप में उसकी व्याख्या उसके कुछ प्रसंगों पर तो बहुत सटीक बैठती है, पर्यंत तक वह नहीं जाती। पर्यंत में तो वहाँ स्मरण अभिज्ञान में और आखेट का भाव समर्पण में रूपांतरित होता है। किसी भी कृति का निहितार्थ उसके पर्यवसान में ही खुलता है। एकदेशीय प्रसंगों में नहीं।

ऊपर ओरिएंटलिज़म और उससे बँधी मानसिकता के अभी भी प्रकारांतर और रूपांतर में हमारे बीच मौजूद होने की बात कही गयी है। इस समय अनेक विदेशी और भारतीय विद्वान संस्कृत की कृतियों का जिस तरह पाठ कर रहे हैं, वह सामाजिक-आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक या मनोदैहिक स्तरों तक सीमित रहता है। परम्परा में इतने तक ही पाठ की पूर्णता को नहीं स्वीकारा गया।

जो प्रश्न सिमोना की पुस्तक की समीक्षा के व्याज से उठ गये, उन पर और चर्चा की ज़रूरत है।